वेदोदय
ऋक्
यजुः
वेद
साम
अथर्व
VINOD

विषय-सूची

ओ३म्

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति ।

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ४ | पौष संवत् १९८८, दयानन्दाब्द १०७, जनवरी १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३२ | संख्या ४ पूर्ण सं २२

अनुरञ्जन

[श्री० कवि "कर्ण" महोदय]

८

जहाँ पपीहा पीव—पीव दो अक्षर द्वारा ।
करता हो सुतराम, प्रकट निज आशय सारा ॥
जहाँ कलापी कुहू, कुहू मन को भाती हो ।
पञ्चम स्वर में राग, जहां कोकिल गाती हो ॥

जोड़ी सारस की प्रीत की, रीति सिखाती हो जहां ।
कवि "कर्ण" सीखना चाहिये; अपने को भी कुछ वहां ॥

९

जहां जलाशय जलज-पूर्ण शोभादायी हों।
गूँज रहे अविराम, जहाँ अलि समुदायी हों॥
मृग शावक मिल जहां, छलागें नित भरते हों।
उपवन जहाँ प्रदान, नया जीवन करते हों॥

कवि "कर्ण" पुष्प-परिमल लिये, पवन बह रहा हो जहाँ।
निर्विषय और निर्द्वन्द्व हो, किया जाय विचरण वहां॥

१०

आनन-सरसिज जहां: सभी के खिले हुये हों।
हृदय परस्पर जहां, सभी के मिले हुये हों॥
उन्नत सब को देख, जहां सब सुख पाते हों।
सब-सब के अनुकूल, जहां पाये जाते हों॥

कवि "कर्ण" जहां पर एक हो: ध्येय और उद्देश हो।
कर धारण भावुकता घनी: सत्वर वहां प्रवेश हो॥

११

जहां भक्ति के भाव, जगाये जाते हों नित।
जहां प्रेम के अश्रु, बहाये जाते हों नित॥
जहां व्यक्ति-गत भेद, मिटाये जाते हों नित।
जहां सम्मिलित मोद-मनाये जाते हों नित॥

कवि "कर्ण" सभी अनुराग रत, पाये जाते हों जहां।
वस्तुत: बिताने चाहिये, जीवन के वासर वहां॥

१२

सायं प्रातः जहां नियम से यज्ञ हवन हो।
मिल कर सब का जहां, नित्य संध्या बन्दन हो॥
जहां मनोहर भक्ति-भाव मय भजन गान हो।
जहां परस्पर बैठ, प्रेम-पीयूष पान हो॥

आनन्द सदा सत्सङ्ग का, लूटा जाता हो जहां।
कवि "कर्ण" किया जावे अतः, अधिक कालयापन वहां॥

१३

द्विजगण जहां विभोर, वेद व्याख्या करने में।
यज्ञादिक शुभ कर्म्म, जहां वह आचरने में॥
रत हों सभी प्रकार, भरा जिनमें विवेक हो।
जिनका प्रिय उद्देश; सभी के लिये एक हो॥

जिन के द्वारा सत् असत् का, "कर्ण" सभी को ज्ञान हो।
पद—पद्मों में उन के कहीं? आदरभाव महान् हो॥

१४

जहाँ निरन्तर ज्ञान-प्रदीप जला करता हो।
जहाँ अहर्निश धर्म-प्रसङ्ग चला करता हो॥
जहाँ निराला नाद-निनाद हुआ करता हो।
जहाँ शान्त सब वाद-विवाद हुआ करता हो॥

कवि "कर्ण" जहाँ रहता बना, गुरु जन का आलाप हो।
विश्राम वहाँ करते हुये, मन अपना निष्पाप हो॥

यज्ञोपवीत या जनेऊ

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

दिक सोलह संस्कारों में दो को सब से अधिक गौरवान्वित समझा जाता है, एक यज्ञोपवीत और दूसरा विवाह। रहे अन्य! उनका मान्य तो शायद विरले ही घरों में होगा। परन्तु आजकल लोग इन दो संस्कारों से भी तंग आगये हैं। विवाह के बंधनों से मुक्त होने का घोर प्रयत्न पाश्चात्य देशों तथा उनके अंध-विश्वासी अनुयायी पूर्व देशीय युवकों में भी हो रहा है। फिर विचारा यज्ञोपवीत किस गिनती में है।

कुछ समय पूर्व यज्ञोपवीत ऊंच और नीच जातियों का भेदक चिह्न समझा जाता था और बहुत सी नीच समझी जाने वाली जातियां बड़े चाव से अपना यज्ञोपवीत संस्कार कराके उच्च जातियों में मिलने की कोशिश किया करती थीं। परन्तु कालान्तर में भाव बदल गया और जिन जातियों ने यवनों के अत्याचार के समय में अपने रक्त से अपने जनेऊ की रक्षा की थी उन्हीं की संतान तीन धागों का बोझ कन्धों पर न सहार सकी और उसे व्यर्थ का ढौंग समझ कर तोड़ने लगी।

इस युग के प्रसिद्ध बंगाली विद्वान् श्री बाबू केशवचन्द सेन ने सब से पहले जनेऊ तोड़ फेंकने का श्रेय अपने सिर लिया था और उनके अनुकरण रूप में उनके नव-विधान धर्मानुयायी यज्ञोपवीत को उसी घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे जिससे चोरी आदि अन्य कर्म देखे जाते हैं। कोई यज्ञोपवीत धारी ब्रह्मसमाज की वेदी पर चढ़ नहीं सकता था।

कुछ दिनों तक यह केवल ब्रह्मसमाज की ही विशेषता रही। शनैः २ जनेऊ तोड़कों का मण्डल बढ़ा। यहां तक कि आज कल कभी कभी कान में यह आश्चर्य-जनक भनक भी पड़ जाती है कि अमुक आर्य्य-सामाजिक विद्वान् यज्ञोपवीत पर विश्वास नहीं रखते और उसे ढौंग समझते हैं।

जो वैदिक धर्मी नहीं उनके विषय में तो सुगमता से समझ में आ जाता है कि उनकी यज्ञोपवीत पर श्रद्धा न हो। परन्तु जिस वेदाध्ययन का अधिकार ही मनुष्य को यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत होने के पश्चात् प्राप्त होता है उसको वेदानुकूल न मानना अवश्य आश्चर्य जनक प्रतीत होता है।

यज्ञोपवीत संस्कार के विषय में निम्न प्रश्न हैं:—

(१) क्या वेदों में जनेऊ धारण करना लिखा है ?

(२) क्या वेदों के पीछे के वैदिक ग्रन्थों में यज्ञोपवीत का वर्णन है ?

(३) यज्ञोपवीत का क्या उपयोग है ?

(४) यज्ञोपवीत धारण न करने में क्या हानि है ?

(५) यज्ञोपवीत किसको धारण करना चाहिये ?

(६) क्या यज्ञोपवीत के समान कोई संस्कार अन्य धर्मों में भी हैं ? और उनकी जनेऊ से किस प्रकार तुलना की जा सकती है?

कुछ लोगों का कहना है कि वेदों में जनेऊ का वर्णन नहीं है। इस लिये सब से पहले हम इसी को लेते हैं।

(१)

स सूर्यस्य रश्मिभिः परिव्यत तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे। नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतम् ॥

(ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ८६, मंत्र ३२)

यहां उस ब्रह्मचारी का वर्णन है जो गुरुकुल से निकल कर संसार में विद्या का प्रचार करता है :—

(स) वह ब्रह्मचारी (यथा विदे) ज्ञान पूर्वक (त्रिवृतं तन्तुं तन्वानः) तीन धागों का जनेऊ धारण करता हुआ (सूर्य्यस्य रश्मिभिः परिव्यत) सूर्य्य की किरणों के समान प्रकाश से प्रकाशित होता है। (ऋतस्य प्रशिषः नवीयसीः नयन) ईश्वर के सृष्टि-नियम की प्रशंसा युक्त नई नई बातों को फैलाता हुआ (जनीनाम् पतिः) मनुष्यों का नेता (निष्कृतं उप याति) स्वतंत्र विचरता है। इस मंत्र में स्पष्ट वर्णन है कि ब्रह्मतेज धारी ब्रह्मचारी तीन धागों का जनेऊ धारण करता है।

(२)

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि ॥

ऋग्वेद १०।५७।२

(यः) जो (यज्ञस्य) यज्ञ को (प्रसाधनः) पूरा करने वाला (तन्तुः) सूत्र (देवेषु) विद्वानों में (आततः) फैला हुआ अर्थात् प्रचरित है (तम्) उस (आहुतं) पूज्य सूत्र को (नशीमहि) हम भी प्राप्त होवें।

इस मंत्र में बताया गया है कि विद्वानों में जनेऊ का प्रचार है, बिना जनेऊ के यज्ञ पूरा नहीं होता। (इसी लिये इसको यज्ञोपवीत कहते हैं)। यह सूत्र पूज्य है। इसको अवश्य धारण करना चाहिये।

(३)

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥

ऋग्वेद ३।८।४

(युवा) नौजवान (सुवासाः) अच्छे वस्त्र पहने हुये (परिवीतः) कन्धे के चारों ओर जनेऊ धारण किये हुये ब्रह्मचारी (आगात्) आया है। (स) वह (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) सब संसार का हित करने वाला (भवित) होता है ! (धीरासः) धीर (स्वाध्यः) अच्छी तरह ध्यान करने वाले (मनसा देवयन्तः) मन से ईश्वर की कामना करने वाले (कवयः) विद्वान लोग (तं) ऐसे विद्वान को (उन्नयन्ति) आगे बढ़ाते हैं ॥

जिस प्रकार ऊपर के दो मंत्रों में विद्वान ब्रह्मचारी को सूत्रधारी बताया गया है उसी प्रकार इस मंत्र में उस को "परिवीत" अर्थात् यज्ञोपवीत से युक्त बताया गया है। 'परिवीत' का अर्थ है 'परि'=चारों ओर,+'वीत'=आवेष्टित या लपेटा हुआ। यहां जनेऊ के कंधे के चारों ओर पड़े होने की ओर संकेत है।

(४)

तस्मात्* प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥

(अथर्व वेद ३ । १ । २४)

(तस्मात्) इस लिये (प्राचीन उपवीतः) सामने जनेऊ धारण करके (तिष्ठे) खड़ा हो और प्रार्थना कर कि (प्रजापते) हे ईश्वर (मा) मुझ पर (अनु बुध्यस्व) कृपा कीजिये । (एवं) ऐसे पुरुष पर (प्रजा) लोग और (प्रजापति) ईश्वर (अनु बुध्यते) कृपा करते हैं (य एवं वेद) जो इस रहस्य को समझता है।

इस मंत्र में उपवीत शब्द आया है। तात्पर्य यह है कि जो विधि पूर्वक जनेऊ धारण करके विद्या की प्राप्ति और ईश्वर की प्रार्थना करता है उस पर ईश्वर और मनुष्य सभी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

(५)

एतावद् रूपं यज्ञस्य यद्
देवैर्ब्रह्मणा कृतम् ।
तदेतत् सर्वमाप्नोति यज्ञे
सौत्रामणी सुते ॥

(यजुर्वेद १९ । ३१)

(यज्ञस्य) यज्ञ का (एतावद् रूपं) इतना रूप (यद्) जितना (ब्रह्मणा) ईश्वर ने (देवैः) विद्वानों द्वारा (कृतं) सम्पादित कराया। (तत् एतत् सर्वम्) वह सब (सौत्रामणी सुते यज्ञे) जनेऊ धारण करने के निमित यज्ञ में (आप्नोति) प्राप्त होता है। 'सौत्रामणी' शब्द का अर्थ ऋषि दयानन्द कृत भाष्य में इस प्रकार है :—

सूत्राणि यज्ञोपवीतादीनि मणिना ग्रन्थिना युक्तानि ध्रियन्ते यस्मिंस्तस्मिन्।

* प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीनः.... (शतपथ २ । ६ । १ । ८)

अर्थात् जनेऊ आदि धागे की गांठ बनाकर जिसमें पहनी जाती है वह यज्ञ।

इसी मंत्र का अन्वय करते हुये ऋषि के भाष्य में इस प्रकार लिखा है :—

यो मनुष्यो यद् देवैर्ब्रह्मणा यज्ञस्यैतावद् रूपं कृतं तदेतत् सर्वं सौत्रामणी सुते यज्ञ आप्नोति स द्विजत्वारम्भं करोति।

अर्थात् सौत्रामणी यज्ञ में मनुष्य द्विज बनता है। इससे स्पष्ट है कि सौत्रामणी यज्ञ यज्ञोपवीत संस्कार ही तो है। वैदिक शब्द-माला में सूत्र शब्द यज्ञोपवीत का वाचक होता ही है। जैसा 'शिखा और सूत्र' के वाक्यांश से प्रकट होता है।

इन ऊपर के मंत्रों से स्पष्ट होता है कि यज्ञोपवीत या जनेऊ का वेदों में विधान न बताना बड़ी भूल है। हमने ऊपर अथर्व ३।१।२४ वाला जो मंत्र दिया है उसमें "प्राचीनोपवीत" शब्द आया है। शतपथ ब्राह्मण में "प्राचीनोपवीती" और "यज्ञोपवीती" शब्द बहुत आया है। उदाहरण के लिये शतपथ काण्ड २ के ६ अध्याय का पहला ब्राह्मण देखिये। इसमें पितृ-यज्ञ का वर्णन है। इसमें दो प्रकार के कृत्य हैं। कुछ क्रियाओं में जनेऊ सामने करने की प्रथा थी। उसी को 'प्राचीनोपवीती' कहते थे। यदि जनेऊ या उपवीत का विधान वेद और ब्राह्मणों में न होता तो 'प्राचीनोपवीती' शब्द का क्या अर्थ होता!

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मंत्र के द्वितीय पाद की व्याख्या करते हुये 'व्रत' की महिमा इस प्रकार बताई गई है :—

व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति अशून्यो भवति अविच्छिन्नो भवति। अविच्छिन्नोऽस्य तन्तुः। अविच्छिन्नं जीवनं भवति॥

(गोपथ पूर्व भाग प्र० १। क० ३५)

अर्थात् व्रत से ब्राह्मण ज्ञानी हो जाता है, भरपूर हो जाता है। अखण्ड होजाता है। उस का जनेऊ खण्डित नहीं होता। उसका जीवन खण्डित नहीं होता।

यहां कहा गया है कि जो ब्राह्मण व्रत का पालन करता है उसी का 'तन्तु' अर्थात् जनेऊ (Sacred thread) खण्डित नहीं होता। उसीका जीवन पूर्ण समझना चाहिये। जनेऊ की महिमा कान पर चढ़ाने से नहीं किन्तु व्रत के पालने से है। यही बात यहाँ बताई गई है। इसी ब्राह्मण के प्रपा० २ की चौथी कण्डिका में है:—

उपनयेतैनम्। (गो० पूर्व० २।४)

अर्थात् आचार्य्य को चाहिये कि वह ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करे।

मनु में भी तो यही आशय है। देखियेः—

उपनीयतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यं प्रचक्षते॥

(मनु० २। १४०)

जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन कराके वेद-को कल्प और रहस्य आदि के साथ पढ़ाता है वही आचार्य्य कहलाता है।

ऐसा तो शायद ही कोई मनुष्य हो जो ग्रह्मसूत्रों में भी यज्ञोपवीत संस्कार के प्रतिपादन का निषेद करे क्योंकि यह संस्कार होता ही गृह्य-सूत्रों में दिये हुये विधि के अनुसार है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र में लिखा है कि "अष्टमें वर्षे ब्राह्मण मुपनयेद् गर्भाष्टमेवा। एकादशे क्षत्रियं। द्वादशे वैश्यम्।" (आश्व० गृ० १। १९)

अर्थात् ब्राह्मण का यज्ञोपवीत् संस्कार आठवें वर्ष या गर्भ के आठवें वर्ष करे ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष वैश्य का।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में लिखा है:—

उपनयनं विद्यार्थस्यश्रुतितः संस्कारः।

(आपस्तम्ब प्र० १। पा०)

अर्थात विद्या के इच्छुक का वैदिक संस्कार उपनयन है। यहां "श्रुतितः" शब्द पड़ा हुआ है। इससे विदित होता है कि आपस्तम्ब के मतानुसार वेदों में भी यज्ञोपवीत संस्कार की विधि है। आपस्तम्ब ने किस वेद मंत्र के आधार पर ऐसा कहा यह कहना कठिन है क्योंकि प्रचीन काल में जब वेदों का पठन पाठन भली भांति प्रचरित था सभी जानते थे कि अमुक बेद मंत्र अमुक बात का प्रतिपादन करता है।

गोभिलीय गृह्यसूत्र तो विस्तार के साथ देता है:—

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति। दीक्षणं कक्षमन्वलम्ब्य भव त्येवं यज्ञोपवीती भवति।

(गो० गृ० प्रपा० १, कण्डिका २, मंत्र २)

अर्थात् दाहिनी भुजा को उठाकर शिर के ऊपर से बायें कन्धे पर, दाहिनी बग़ल में होकर जनेऊ डाला जाता है।

यह तो हुआ उन लोगों के लिये जो कहते फिरते हैं कि वेदादि शास्त्रों में यज्ञोपवीत संस्कार का ढकोसला नहीं है, यह पीछे के लोगों ने मिला दिया है।

अब यज्ञोपवीत का उपयोग संक्षेपतः लिखा जाता है। प्रत्येक संस्कार आन्तरिक शुद्धि का एक बाह्यचिह्न है। इसमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही कृत्य होते हैं। बाह्य कृत्य आत्मिक उन्नति के लिये होते हैं। परन्तु बाह्य कृत्य या बाह्य चिह्न व्यर्थ नहीं होते। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य पर शरीर की त्वचा और उसके सौन्दर्य का भी प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार संस्कार की क्रियाओं का है। इन संस्कारों में केवल यह देखना होता है कि व्यर्थ का आडम्बर तो नहीं है और इतना कठिन तो नहीं है कि उपयोग करने में समय या धन अधिक व्यय हो और उसके अनुकूल फल निकले।

वैदिक ग्रन्थों में लिखा है कि मनुष्य उत्पन्न ही ऋणी होता है। प्रत्येक को देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण चुकाने पड़ते हैं। ऋणों की यह वार्त्ता ढकोसला नहीं है। आज कल राजनीति के शब्दों में कहा जाता है कि मातृ-भूमि का हम पर ऋण है क्योंकि उसी के जल वायु से हमारा शरीर बना है। यह ऋणों का केवल भौतिक अङ्ग (Material aspect) है। देव कहते ही जल-वायु को हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त माता, पिता के भी तो हम ऋणी हैं जिन्होंने हमको जना और पाला! इसके बाद ऋषियों की कृपा से ही हम अपनी प्राचीन भाषा, प्राचीन सभ्यता और प्राचीन संस्कृति को प्राप्त कर सके। इसलिये ऋणों का आध्यात्मिक रूप ऋषि-ऋण है। इन ऋणों को चुकाने के प्रयत्न को ही वेदों में व्रत बताया गया है। नीचे के ऋग्वेदीय मंत्र में आर्य्य और दस्यु की पहचान की गई है।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो।
बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्॥
(ऋ० १। ५१। ८)

अर्थात् हे राजन् तुम शासन के हेतु जानो कि आर्य कौन हैं और अव्रत (व्रत-रहित) दस्यु कौन हैं।

आर्य्य वह है जो सव्रत है। दस्यु वह है जो अव्रत है। जो ऋणी होता हुआ ऋण को स्वीकार नहीं करता वही अव्रत है। आज कल यदि कोई कहे कि भारत माता का हमारे ऊपर क्या ऋण है? हम उसके उद्धार के लिये क्यों यत्न करें। तो आप क्या कहेंगे? यही न कि यह धूर्त्त है विश्वासघाती है, देश शत्रु है! भारत माता का कपूत है। वेद इन्हीं भावों को 'दस्यु' शब्द से प्रकट करते हैं। जो अपने दायित्व को समझ कर उसके चुकाने में दत्त चित्त है वही आर्य्य है। इस दत्त-चित्तता का व्रत मनुष्य को आरम्भ में ही लेना होता है। कोई योग्य माता पिता नहीं चाहते कि उनकी सन्तान दस्यु हो। इसलिये आरम्भ में ही आर्य्यत्व का बीज बोया जाता है। आर्य्यत्व का अर्थ ही दायित्व है। दायित्व आर्य्यत्व है आर्य्यत्व दायित्व है। इस दायित्व का व्रत दिलाने के समय ही बालक को तीन धागों का जनेऊ पहनाया जाता है, जिसको वेदों ने यज्ञ का महान् साधन बताया है (ऋ० १०। ५७ २) यह त्रिवृत्त तन्तु या तीन धागों का जनेऊ बालक को उसके तीन ऋणों की याद दिलाता है और नित्य प्रति उसके कान में घोषणा करता है कि अपने दायित्व पर ध्यान रक्खो।

आज कल बिल्लों और बैजों (badges) का बड़ा रिवाज है। यदि तुम बालचर हो तो तुमको अमुक प्रकार का बिल्ला लगाना चाहिये। यदि तुम स्वयंसेवक हो तो अमुक प्रकार का पट्टा

गले में डालना चाहिये। यदि तुम किसी सभा में प्रतिनिधि हो तो तुमको एक चिह्न धारण करना चाहिये। यह सब क्या ढकोसला है? क्या इसका कोई उपयोग नहीं? यदि उपयोग न होता तो न मित्रों को उन पर इतनी श्रद्धा होती और न शत्रुओं को इतना विरोध? जिस प्रकार प्राचीनकाल में लोग मरना पसन्द करते थे परन्तु जनेऊ तुड़वाना सहन न कर सकते थे उसी प्रकार आज भी लोग अपनी अपनी पार्टी के बाह्य चिह्नों की रक्षा प्राणों को संकट में डाल कर कर रहे हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि लोग अपने चिह्नों को आवश्यक और दूसरे के चिह्नों को ढकोसला बतलाते हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि यह बाह्य चिह्न तीन भागों का जनेऊ ही क्यों हो? परन्तु एक बात पर दृष्टि रखिये। भारतीय प्राचीन संस्कृति का आदर्श सरलता भी है। क्या जनेऊ से अधिक सरल और सुगम चिह्न भी कोई हो सकता है। कितने बिल्ले हैं वे सब जनेऊ से अधिक आडंबर रखते हैं। इतना सरल चिह्न ध्यान में भी नहीं आ सकता। एक सज्जन ने एक पत्र में लिखा था कि यदि जनेऊ बाह्य चिह्न है तो लोग उसे वस्त्रों के ऊपर क्यों नहीं पहनते। परन्तु उन महाशय ने गहरी दृष्टि से नहीं देखा जो बिल्ले कपड़ों के ऊपर लगाये जाते हैं उनका प्रभाव मनुष्य के आन्तरिक जीवन पर नहीं पड़ता। जनेऊ केवल दूसरों को दिखाने का ही चिह्न तो नहीं है। यह तो मनुष्य को सोते जागते उस के दायित्व को बताने के लिये है। मनुष्य कोट या कुर्त्ता सदा ही नहीं पहन सकता। परन्तु जनेऊ तो उसे नित्य ही पहने रहना चाहिये। क्या जनेऊ से भी सरल कोई चिह्न आविष्कृत हो सकता है जो इन सब बातों का बोध भी करता हो।

कुछ लोग कहेंगे कि क्या जो जनेऊ धारण करता है वह स्वयं ही आर्य्य और श्रेष्ठ बन जाता है। इसका उत्तर यह है कि बाह्य चिह्न तो केवल बाह्य चिह्न ही हैं। किसी बाह्य चिह्न में यह शक्ति नहीं कि वह किसी मनुष्य को किसी विशेष कार्य्य के करने के लिये उद्यत कर सकें। क्या यूनीवर्सिटी की गाउन किसी को ग्रेजुएट बना सकती है? फिर भी गाऊन आवश्यक है। यदि मनुष्य समाज जनेऊ के नियमों का पालन करे और करावे तो अवश्य ही जनेऊ धारी श्रेष्ठ बन सकता है। अन्य सब चिह्नों के समान जनेऊ के लिये भी सामाजिक पोषण (Social sanction) आवश्यक है। यदि जनेऊ धारण करने वाले को जनेऊ का मूल्य बताया जाय और यदि समाज जनेऊ का आदर करे तो अवश्य ही यज्ञोपवीत से लोगों का कल्याण हो सकता

है। यह तो सृष्टि की आदि से अब तक किसी ने नहीं माना कि तीन धागे डाल लिये और मनुष्य का मन शुद्ध हो गया।

क्या यज्ञोपवीत न धारण करने से हानि भी है ? हां है। बाह्य चिह्न सिद्ध-पुरुषों के लिये नहीं होते। परन्तु असिद्धों के लिये अवश्य होते हैं। जो ऋषि, मुनि, परिव्राजक और सच्चे सन्यासी हैं वह तो बाह्य चिह्नों की सीमा को अतीत कर चुके। वह ऐसे पद पर पहुंच चुके जहाँ जनेऊ आदि की आवश्यकता नहीं परन्तु जो अभी उस पद के इधर हैं उनको जनेऊ न पहनने से हानि ही हानि है। उनके लिये तीन ही बातें हैं या तो जनेऊ धारण करें। या अन्य कोई बाह्य चिह्न जनेऊ के सदृश या उसका स्थानापन्न बनावें या बिना बाह्य चिह्न के रहें। तीसरी बात से तो कुछ लाभ नहीं। बाह्य चिह्नों की आवश्यकता तो सहस्रों प्रकार के चिह्नों के प्रचरित हो जाने से ही प्रतीत होती है। परन्तु दूसरी बात भी उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई। अब तक कोई ऐसा चिह्न निकाला नहीं गया जो जनेऊ की बराबरी कर सकता। इसके अतिरिक्त जनेऊ की अति-प्राचीनता और इसका सारगर्भित इतिहास ही इसके गौरव के लिये पर्य्याप्त है। जिस चिह्न के साथ याज्ञवल्क्य और आसुरि, अङ्गिरा और शौनक, कणाद, कपिल और पतंजलि, शंकर, और रामानुज आदि आदि महात्माओं की स्मृति सम्बद्ध हो उसका तिरस्कार कैसे उचित हो सकता है। लोग आज गांधी टोपी का सम्मान करते हैं। क्यों ? क्या टोपी मात्र में कुछ रक्खा है ? टोपी तो गांधी जी से बहुत पहले प्रचलित थी। परन्तु आजकल इस टोपी का केवल इसलिये मान है कि महात्मा गांधी के सिर पर शोभा पाती रही है। इस टोपी में तो कोई दीक्षा का भी चिह्न नहीं है। परन्तु यज्ञोपवीत तो व्रत और दीक्षा का चिह्न है। ऐसी वस्तु की उपयोगिता में कुछ सन्देह नहीं हो सकता।

कुछ लोग जनेऊ को इस लिये घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कि वह शूद्र और द्विज का भेदक-चिह्न है। आज कल के साम्यवादी युग में इस प्रकार के भेद रखना उपयुक्त नहीं। परन्तु वह लोग कुछ विचारें तो सही। क्या ग्रेजुएट का चोला ग्रेजुएट और नौन-ग्रेजुएट (Non-graduate) में भेद नहीं करता ? क्या स्काउट की वर्दी स्काउट और नौन-स्काउट का भेदक चिह्न नहीं है। चिह्न तो सभी भेदक होते हैं। यही तो चिह्न का लक्षण है। चिह्न तो तभी तक चिह्न है जब तक वह भेद कर सके। क्या आप चाहते हैं कि श्रेष्ठ और कुत्सित, विद्वान् और मूर्ख, आर्य्य और दस्यु में कोई भेद ही न रहे ? यदि आप थोड़ी देर न्याय पूर्वक बिचार करेंगे तो

आप को यह बात अनुचित प्रतीत होगी।

हाँ आप एक बात कह सकते हैं। वह यह कि कोई योग्य पुरुष या स्त्री यज्ञोपवीत से वंचित न रक्खी जाय। यह ठीक है। आप प्रत्येक विद्यार्थी को जो ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययन का व्रत करना चाहता है यज्ञोपवीत दीजिये। यदि किसी युग में जन्म और कुल का ढकोसला लगा कर जनेऊ का प्रयोग संकुचित् कर दिया गया तो आप इस अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाइये। न कि जनेऊ के विरुद्ध।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या स्त्री और शूद्रों के लिये भी जनेऊ की आज्ञा है? इसका उत्तर यह है कि स्त्रियाँ तो पहले बिना किसी बाधा कि जनेऊ पहना करती थीं। ऋण की जो उपर्युक्त बात पुरुषों पर लागू होती है वही स्त्रियों पर भी। वह भी तो देव ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण से ऋणी हैं। उनके लिये भी तो यज्ञ करना, वेदादि विद्या पढ़ना और श्रेष्ठ बनना आवश्यक है, इसके अतिरिक्त प्रमाण भी हैं जिनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं :—

(१) कादम्बरी में महाश्वेता के लिये लिखा है :—

ब्रह्म सूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्

अर्थात् वह शरीर पर पवित्र ब्रह्म-सूत्र या जनेऊ धारण किये हुये थी।

(२) तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्या इति

(हारीतस्मृति २१। १३)

अर्थात् ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये उपनयन, वेदाध्ययन और अपने घर में भिक्षाचर्या विहित है।

(३) स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च।

(पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात् स्त्रियों के यज्ञोपवीत होते भी हैं और नहीं भी होते।

(४) प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत् 'सोमोददद् गन्धर्वायेति।'

अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने वाली कन्या को दान करके 'सोमोददद्' वाला मन्त्र जपे।

(५) पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जी बन्धनीमष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा।

—यमस्मृति (पाराशरमाधव)

अर्थात् पहले कल्प में कुमारियों का जनेऊ तथा मौञ्जीबन्धन होता था। उनको वेद भी पढ़ाया जाता था। और गायत्री भी सिखाई जाती थी। स्त्रियाँ और शूद्र एक कोटि में नहीं आ सकते। जिस प्रकार पुरुष सव्रत और अव्रत हो सकते हैं इसी प्रकार स्त्रियां भी सव्रता और अव्रता या आर्या और अनार्या

हो सकती हैं। जो पुरुष या स्त्री व्रत लेना ही नहीं चाहते या ऋणों को चुकाने का दायित्व अनुभव करने में असमर्थ हैं उनको यज्ञोपवीत देने का प्रश्न ही नहीं उठता ! चाहे वह ब्राह्मण कुलोत्पन्न हों चाहे शूद्र-कुलोत्पन्न। परन्तु जो कर्तव्य पाल सकते हैं उनको यज्ञोपवीत का पूर्ण अधिकार है। यों तो ब्राह्मण कुलोत्पन्न पागल या ऐसे रोगी को जो ब्रह्मचर्य्यव्रत नहीं ले सकता जनेऊ का कोई अधिकार नहीं है। यदि हम समझ लें कि पहले वर्ण गुणकर्म और स्वभाव के अनुसार होते थे न कि जन्म के तो अधिकार अनाधिकार का झगड़ा निबट जाता है। अब एक बात शेष रह जाती है। क्या यज्ञोपवीत संस्कार के समान अन्य धर्मों में भी कोई संस्कार होता है ? ईसाई, मुसल्मान आदि छोटे बड़े सभी धर्मों में कोई न कोई क्रिया ऐसी की जाती है जिससे मनुष्य उस धर्म सम्बंधी कृत्यों के करने का अधिकारी हो जाता है। परन्तु पारसी धर्म में जो इन सब की अपेक्षा वेदों से मिलता जुलता और निकटतम है यज्ञोपवीत के समान ही एक संस्कार होता है, जिसको 'नवजोत' संस्कार कहते हैं। यह बालक के सातवें वर्ष होता है और अधिक से अधिक अवधि १५ वर्ष की है। इसमें दो वस्तुयें दी जाती हैं एक 'सुदरेह' जो श्वेत वस्त्र का कुर्त्ता सा होता है। इसके गले के सामने एक गांठ होती है जिसे उनकी भाषा में "कीस्से ये केर्फ़े" या 'सवाव नी कोथरी' (पुण्य की थैली) कहते हैं। दूसरी "कुस्ती" है जो कमर बन्द के समान एक चीज़ है। यह वैदिक मोञ्जी बंधन के सदृश होती है। इस नवजोत संस्कार के पश्चात् मनुष्य जरथुस्ती धर्म के कृत्यों का अधिकारी हो जाता है। यह नवजोत संस्कार बहुत सी बातों में वैदिक उपनयन से मिलता जुलता है। परन्तु जो सरलता उपनयन में है वह 'नवजोत' में नहीं।

श्रृंगी मुनि का तपस्तेज

[श्री पं० शंकरदेव विद्यालङ्कार गुरुकुल सूपा]

गा नदी का पवित्र किनारा था। शमिक ऋषि वहाँ पर सुंदर पर्णशाला बना कर निवास करते थे।

मुनि बहुत सबेरे से ही उठ कर ध्यान प्रारंभ कर देते थे। उषा की लाली फूटते ही पंखी आश्रम वृक्षों पर मधुर गान प्रारंभ कर देते थे। मुनि हवन करते, जप जाप करते और वेद मंत्र गाते थे। मध्याह्न होता और मुनि का ध्यान समाप्त हो जाता। वे कुछ वन फल खाते और पानी पीते थे। यही उनका नित्य का कार्य-क्रम था।

❀ ❀ ❀

मुनि का एक सुपुत्र था। खूब ही सुंदर। मानों दूसरा चाँद। बड़ा ललाट और तेजभरी आँखें। मुनि ने उसका नाम रक्खा था — श्रृंगी।

श्रृंगी प्रति दिन पिता की सेवा करता और जब वे जप ध्यान में लग जाते तो स्वयं गंगा के किनारे खेलता कूदता रहता। एक दिन की बात है। मध्याह्न बीत गया था। आश्रम में शमिक मुनि अपने ध्यान में मग्न थे। श्रृंगी गंगा तट पर अपनी खेल कूद में मशगूल था। इतने में राजा परीक्षित आश्रम में आ पहूंचे!

राजा जी आज मृगया (शिकार) करने वन में निकले थे! वन में घूमते घूमते उनका गात थक गया। प्यास के

मारे कण्ठ भी सूख गया ! "चलूं—इस आश्रम में जाऊँ—वहां पर कोई मुनि होगा तो पानी माँग लूंगा।" यह सोच कर राजा जी आश्रम में आए थे।

शमिक मुनि के समीप आकर राजा ने जल मांगा ! पर वहाँ कौन सुने ? मुनि जी तो अपनी समाधि में मग्न थे ! न हिले न डुलें।

राजा ने दो तीन बार पानी माँगा ! पर वहां उत्तर कौन दे ??

राजा ने सोचा यह मुनि दंभी प्रतीत होता है। सच्चे मुनि ऐसे नहीं होते ! आज इस दंभी को ऐसी सजा दूंगा कि आगे को ऐसा दंभ कभी न करे।

❀ ❀ ❀

आश्रम के बाहिर एक मरा हुआ साँप पड़ा था। राजा जी ने धनुष द्वारा सांप को उठाया और शमिक मुनि के गले में लपेट कर राज महल की ओर चलते बने !

उधर खेलते खेलते शृंगी को एका-एक पिता जी की याद आई ! वह आश्रम में आया ! आते ही देखा पिता जी के गले में तो साँप पड़ा है। वह रोने लगा और सोचने लगा—"पिता जी के साथ ऐसी भयंकर मस्खरी किसने की है ?" क्रोध और विषाद से उसका हृदय जल उठा। वह प्रभु से अभ्यर्थना करने लगा। "हे प्रभु, पिता जी का अपकार करने वाले को दण्डित करो !"

❀ ❀ ❀

मुनि की समाधि खुली-उन्होंने अपने लोचन खोले ! मुनि ने देखा कि शृंगी तो रो रहा है।

मुनि ने पूछा—"तात, क्या बात है, रोता क्यों हैं ?"

शृंगी ने सब घटना कह सुनाई ! शमिक मुनि ने पुनः ध्यान लगाकर देखा और कहा—"वत्स, वह तो राजा परीक्षित था, उसे ऐसा दंड नहीं दिया जा सकता।"

उधर राजा के मन में भी बहुत खेद हुआ कि मैंने नाहक ही एक मुनि का अपमान किया है इस पाप से मेरा उद्धार कैसे होगा ! मैंने बहुत बुरा किया !

राजा ने सोचा कुछ यज्ञ याग और सत्कार्य करके पाप से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए।

राजा ने गङ्गातीर पर बड़ा उत्सव किया अनेक ऋषि मुनियों को बुलाया ! और परमेश्वर का भजन करना प्रारम्भ किया ! वहाँ पर श्री शुकदेव जी भी पधारे ! उन्होंने भी प्रेम से प्रभु के गीत गाए ! बहुत दिनों तक इसी प्रकार प्रभु भक्ति का मेला होता रहा।

एक दिन राजा परिक्षित फूल लेने को वाटिका में गया। वहाँ पर एक सर्प ने राजा को काट लिया। राजा वहीं पर मरण को प्राप्त हुआ !!

लोग कहने लगे यह जरूर किसी ऋषि या ब्रह्मचारी के ब्रह्मवर्चस् का प्रभाव है। और सचमुच ही शृंगी के हृदय की दीर्घ वेदना और विषाद ही मानो राजा के लिए शाप बन गई थी।

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

इतने उद्धरणों को देकर राममोहन-राय जी कहते हैं कि इतने स्थान-भेद, क्रिया भेद और व्यक्तित्व-भेदों के होते हुये कैसे सम्भव है तीनों की एकता कैसे मानी जाय जब एक पृथ्वी पर धार्मिक कृत्य कर रहा हो तब दूसरा स्वर्ग में उसके काम के ऊपर प्रसन्नता प्रकट कर रहा हो और तीसरा दूसरे को इच्छा नुसार पहले पर उतर रहा हो। यदि शरीरों की भिन्नता स्थानों की भिन्नता और कार्य्यों की भिन्नता भी व्यक्तियों को भिन्न भिन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है तो एक आदमी और दूसरे आदमी में पहचान हो कैसे हो सकेगी और वृक्ष का पत्थर से या चिड़िया का मनुष्य से कैसे भेद जान सकेंगे ? जिसके कुछ भी बुद्धि है वह ऐसा कदापि नहीं मान सकता ईसाई कहता है कि ईश्वर-बेटे ने अपनी महिमा को थोड़ी देर के लिये अलग रख दिया। क्या एक इस अखण्ड ईश्वर के लिये सम्भव है कि वह अपनी प्रकृति के किसी अंश को अलग रखदे और फिर उसके लिये प्रार्थी हो ? क्या इस संसार के रचयिता ईश्वर के गुण के अनुकूल है कि वह कुछ समय के लिये भी सेवक रूप धारण कर सके ? क्या ईश्वर का यही भाव है जो ईसाई मानता है ? जो मूर्त्ति पूजक हिन्दू अपने बहु- ईश्वर-वाद के लिये युक्तियां देते हैं वे इन युक्तियों से कहीं अधिक सारगर्भित होती हैं। जब ईसाई मानता है कि पवित्र-आत्मा फाख़ता चिड़िया के रूप में उतरी और कहता है कि "when God renders himself visible to man, it must be by appearing in some form." जब ईश्वर अपने को मनुष्य के प्रति प्रकट करना चाहता है तो कोई न कोई रूप तो धारण ही करेगा" तो आ-श्चर्य है कि वह पौराणिकों के गाय या मछली के अवतारोंपर आक्षेप करे क्योंकि जैसी फ़ाख़ता सीधी सीधी, वैसा ही मछली या गाय।

राम मोहन राय का आक्षेप—They say that God must be worshipped in spririt and yet they worship Jesus Christ as very God, although he is possessed of a material body. अर्थात् ईसाई लोग कहते हैं कि ईश्वर को आत्मा करके पूजना चाहिये फिर भी वे ईसू मसीह को ईश्वर के स्थान में

पूजते हैं यद्यपि ईसू मसीह शरीर धारी है ।

ईसाई का उत्तर :—Christians Worship Jesus Christ and not his body seperaetety from him. ईसाई लोग ईसू मसीह को पूजते हैं, उससे अलग उस के शरीर को नहीं ।

राय जी का प्रत्युत्तर—यदि हम मान लें कि शरीर धारी आत्मा की पूजा आत्मा की ही पूजा है जड़ पदार्थ की नहीं, तो किसी सम्प्रदाय को मूर्तिपूजक होने का दोष न लग सकेगा । क्या यूनानी और रोमन लोग ज्यूपिटर और जूनो आदि देवी देवतों के शरीरों को उनके आत्मा से अलग मान कर पूजा करते थे ? क्या हिन्दू लोग अवतारों की मूर्तियों को आत्मा मान कर नहीं पूजते ? वह भी तो प्राण प्रतिष्ठा करके ही मूर्तियों को पूजते हैं । लोग अंगरेजों की बुद्धि और नीति को देखकर समझ लेते हैं कि इनके धार्मिक विचार भी उच्च होंगे । परन्तु ऐसा नहीं है ।

ईसाई ने लिख दिया था कि हिन्दू लोग आचार-सम्बन्धी मृत्यु (moral death) की ओर जा रहे हैं । श्रीराम मोहन राय जी के जाति-प्रेम के लिये यह बात असत्य थी । उन्होंने लिखा है कि प्रसंग से बाहर होने के कारण हम यूरोप और हिन्दुस्तान वासियों के पारिवारिक चरित्रों की तुलना नहीं करते अन्यथा संसार को ज्ञात हो जाता कि सब से अधिक त्रुटियां किस में हैं ।

दो वर्ष तक इसका उत्तर न मिला । दो वर्ष पीछे १८२३ ई० में ईसाइयों ने एक ट्रैक्ट लिखा जिसमें वेदों पर नास्तिकता का लांछन लगाया गया । राजा राम मोहनराय ने तुरन्त ही उसका उत्तर दिया । और ईसाइयों के त्रित्ववाद पर बड़े प्रबल आक्षेप किये । उन्होंने कहा कि न तो बाइबिल के पढ़ने से त्रित्व की बात समझ में आती है न ईसाई विद्वान् ही कुछ समझे प्रतीत होते हैं । जिस प्रकार हिन्दू बचपन से काली माई की महिमा सुनते सुनते काली के उपासक बन जाते हैं इसी प्रकार ईसाई लोग भी पिता, पुत्र, और पवित्र-आत्मा की रहस्यमय एकता को सुनते सुनते उसके उपासक हो जाते हैं । अन्ध विश्वास ही दोनों का आधार है । यहां उन्होंने इंग्लैण्ड के चर्च (The Church of England) के कुछ पादरियों के मत दिये हैं:—

(१) डाक्टर वाटर लैण्ड (Water Land) डा० टेलर (Taylor) और लाट पादरी सेकर (Archbishop Secker) मानते हैं कि तीन भिन्न २, स्वतंत्र और समान पुरुषों का एक ही ईश्वर मानना ईसाई त्रैत है । इस प्रकार बाप, बेटा और पवित्र-आत्मा एक ईश्वरत्व के

अन्तर्गत तीन अलग २ द्रव्य हैं। The Trinity consists of three distinct, independant, and equal Persons consisting one & the same God)

(२) डाक्टर वालिस (Wallis) और शायद लाटपादरी टिलौटसन (Tillotson) मानते है कि त्रैत के पुरुष केवल तीन प्रकार या सम्बन्ध हैं जो ईश्वर के प्राणियों के साथ हैं। अर्थात पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा तीन गुण हैं जो ईश्वरत्व के भाव के अन्तर्गत हैं।

(३) पादरी पियर्सन (Bishop Pearson) पादरी बुल (Bull) और डा० ओविन (Owen) मानते हैं कि पिता एक अनुत्पन्न और मुख्य सत्ता (an Underived and essential Essence) है और पुत्र में यह सब बातें पिता-ईश्वर के संपर्क से आती हैं। विशप पियर्सन का कथन है :— "There can be but one person originally of himself, subsisting in that infinite being, because a plurality of more persons so subsisting would necessarily infer a multiplicity of Gods" अर्थात् आदि में केवल एक ही पुरुष हो सकता है जो अनन्त सत्ता हो क्योंकि एक से अधिक मानने से बहु-ईश्वर-वाद आ जायगा। और "The son possessed the whole nature by *communication* not by *participation* and *in such way* that he was as really God as the Father." और पुत्र ने संपर्क से, न कि बटवारे से और इस प्रकार इस पूर्ण स्वभाव को धारण कर लिया कि वह पिता के समान ही ईश्वर हो गया।

(४) विशप बर्जेस (Burgess) कहता है कि "The Scriptures declare that there is but only one God—The same scriptures declare that there are three omnipresent persons; but three cannot be two omnipresent beings; therefore the three omnipresent persons can be only one God"

अर्थात् बाइबिल में लिखा है कि ईश्वर एक ही हैं। बाइबिल में यह भी लिखा है कि तीन सर्व-व्यापक पुरुष हैं लेकिन दो सर्व व्यापकों का होना भी असम्भव है। अतः तीन सर्वव्यापक पुरुष एक ही ईश्वर हो सकते हैं।"

(५) डाक्टर टामस बर्नेट (Dr. Thomas Burnet) के अनुसार पिता स्वतन्त्र सत्ता है और पुत्र और पवित्र-आत्मा आश्रिता।

(६) मिस्टर बैक्सटर (Mr. Baxter) का मत है कि यह तीन पुरुष बुद्धि (Wisdom) शक्ति (Power) और प्रीति (Love) हैं।

(७) विशप गैस्ट्रल (Bishop Gastrell) कहता है कि ईश्वर के तीन नाम अर्थात पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा ईश्वर के तीन भेदों। (Three gold differenc or distinction) को प्रकट करते हैं।

परन्तु इस प्रकार कि ईश्वरत्व की एकता और मिश्रणरहितता बनी रहे। क्योंकि हर एक से ईश्वर का पूर्ण भाव तथा कुछ अधिक भी पाया जाता है।

(८) मि० होवे (Mr. Howe) के मत में तीन भिन्न २ चेतन सत्तायें इस अनिर्वचनीय विधि से मिल गई हैं कि एक ईश्वर हो गया। उसी प्रकार जैसे शरीर, इन्द्रियां और बुद्धि मिलकर एक मनुष्य बन जाता है।

(९) डा० शरलक (Sherlock) का कथन है कि "The Father, Son, and Holy Ghost, are as really distinct Persons as Peter, James John each of which is God" अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा अलग २ सत्तायें हैं जैसे पीटर जेम्स और जौन। इन में से हर एक ईश्वर है।

(१०) डा० हीबर (Dr. Heber) कलकत्ते का तत्कालीन विशप मानता है कि त्रैत के दूसरे और तीसरे पुरुष मिकाईल और जिब्राईल फरिश्ते हैं।

श्री राजा राम मोहन राय कहते हैं कि वस्तुतः ईसाई त्रैत-वाद एक पहेली है जिसका आधार अज्ञान और अन्ध-विश्वास के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं कि ईसाई धर्म की व्यावहारिक बातों को क्यों नहीं लेते। इस त्रित्व के झमेले में क्यों पड़ते हो? राम मोहन राय उत्तर देते हैं कि यदि इस त्रैत पर ईसाई लोग बल न देते, यदि वे इसको अपना गौण सिद्धान्त ही समझते तो हम ऐसा ही कर सकते थे। परन्तु जब विना त्रैत माने कोई ईसाई तो हो ही नहीं सकता तो फिर शास्त्रार्थ के समय त्रैत की जांच न करना बड़ी भूल है। यह बाल की खाल खींचना नहीं है किन्तु एक अत्यन्त आवश्यक सिद्धान्त की जांच करना है।

यह थे राजा राममोहन राय जी के विचार। इन्हीं के प्रचार के लिये उन्होंने ब्रह्म-समाज स्थापित किया और इस का ८ जनवरी सन् १८३० ई० को ट्रस्ट डीड (Trust deed) लिखा गया। उस समय ब्रह्म समाज के सिद्धान्त यह थे।

(१) वेद और उपनिषदों को मानना चाहिये।

(२) इन में एक ईश्वर का प्रतिपादन है।

(३) मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध है। इसलिये त्याज्य है।

(४) बहु विवाह, बाल विवाह, सती की वर्तमान प्रथा यह सब वेद विरुद्ध और त्याज्य हैं।

(५) ईसाइयों में बहुत से अच्छे लोग हैं परन्तु ईसाई धर्म हिन्दू धर्म से किसी प्रकार अच्छा नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि शासकों के धार्मिक विचार भी अच्छे ही हों। और यह शासकों की बड़ी भूल है कि वह पराजित और शासित जातियों पर अपने दोष-पूर्ण धर्म को आरोपित करें।

क्रमशः

समालोचना

सुधा

सपादक श्री पं० दुलारेलाल भार्गव,

प्रकाशक गंगा पुस्तकमाला कार्य्यालय, लखनऊ।

श्री पं० दुलारेलाल भार्गव तथा गंगापुस्तक-माला से हिन्दी संसार परिचित है। इन दोनों के द्वारा हिन्दी साहित्य का जो कल्याण हुआ है उसका वर्णन करना कठिन है। उत्तम पुस्तकों का प्रकाशन तो हुआ ही है उसके अतिरिक्त अनेकों ग्रन्थ जो अप्राप्य से हो रहे थे, गंगा-पुस्तक माला ने उनको सुचारु रूप देकर पुनः हिन्दी प्रेमियों को उपलब्ध करा दिया है। सुधा नाम की सर्वोत्कृष्ट पत्रिका निकालने का श्रेय भी पण्डित दुलारेलाल जी भार्गव तथा गंगापुस्तक माला को है। यह पांच वर्ष से हिन्दी जाति की सेवा कर रही है। यह लिखने में थोड़ी सी भी हिचक नहीं कि हिन्दी में इस समय इतनी उत्कृष्ट पत्रिका दूसरी है ही नहीं। विद्वत्ता पूर्ण लेख, सुन्दर कहानियां, मनोहर कवितायें बढ़िया चित्र प्रति मास निकलते हैं। पाठकों की सुविधा के विचार से अब इस पत्रिका ने अपना वार्षिक चन्दा भी कम कर दिया है।

(२२)

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति । यः पूर्वोतिथेरश्नाति ।

(अथर्ववेद काण्ड ९, सूक्त ६ (३) मंत्र १)

(यः) जो मनुष्य (अतिथेः) अतिथि के (पूर्वः) पहले (अश्नाति) खाता है (एषः) वह (गृहाणाम) घरों की (इष्टं) कामनाओं को (वा) और (पूर्तं) पूर्णता को (अश्नाति) खाजाता अर्थात् नष्ट कर देता है ।

इस वेद मन्त्र में गृहस्थ लोगों का अपने अतिथियों के प्रति क्या कर्त्तव्य है यह बताया गया है । अतिथि वह है जिस के आने की कोई तिथि न हो । जो अचानक आ पड़े । साधु, सन्त, सत्य उपदेष्टा, महात्मा नित्य प्रति विचरते रहते हैं । वह तिथि नियत करने के बन्धन में नहीं पड़ते । वह आज यहां तो कल वहां ! यह लोग गृहस्थियों की परिस्थिति को देखते और उसको सुधार ने का प्रयत्न करते रहते हैं । यह लोग अपने खान-पान का कोई प्रबन्ध नहीं करते । इनके पास पैसा कमाने या रोटी बनाने के लिये समय ही नहीं । इनकी आवश्यकतायें इनके वश में हैं । यह अल्प आहार, अल्प वस्त्र आदि से ही गुजारा कर लेते हैं । परन्तु इनके पास शरीर है । इसी शरीर के सहारे यह परोपकार का कार्य्य करते हैं । शरीर के चलाने के लिये भोजन और वस्त्र की आवश्यकता है । अत: गृहस्थियों का यह कर्त्तव्य है कि वह अतिथियों का सत्कार करें ।

वेद ने इस कर्त्तव्य को बड़े सुन्दर शब्दों में दर्शाया है । गृहस्थ का अतिथि-सेवारूपी कर्त्तव्य उसके अन्य कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक है । गृहस्थ का

साधारण कर्त्तव्य तो यह है कि धन कमाये, रोटी, वस्त्र आदि से अपने बाल बच्चों का पालन-पोषण करे। परन्तु यह कर्त्तव्य तो इतना साधारण है कि नीच से नीच पुरुष भी करेगा। यदि इसके लिये कोई उपदेश न दे तो भी वह इसको करेगा ही। पक्षी भी अपने बच्चों के लिये चोंच में खाना लाकर दे देते हैं। जो पुरुष अपने बाल-बच्चों को पालने का भी कष्ट नहीं सहन करता उसकी तो पशुओं से भी अधम अवस्था है।

परन्तु सद् गृहस्थों के लिये इस से उच्च कर्तव्य चाहिये। कर्तव्य वही नहीं है जिसे मनुष्य श्वास प्रश्वास की भांति स्वभावतः ही करे। कर्तव्य के लिये आत्म-त्याग की भी आवश्यकता है। जिस कर्तव्य में जितना अधिक त्याग है उसी का उतना ही श्रेय अधिक है।

वेद कहता है कि सद्‌गृहस्थी को चाहिये। कि अतिथि को खिलाकर भोजन करे। बिना उसे खिलाये कभी भोजन न करे। जो गृहस्थी अतिथि से पहले भोजन कर लेता है वह अपने घरों की ही पूर्ति का नष्ट कर देता है। अतिथि से पूर्व खाना अपने ही कल्याण को खाजाने के समान है।

वेदोदय को अपना कर वेदों के प्रचार में हाथ बटाइये।

वैदिक राहु

[श्री पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, काव्य मध्यम, एम० एस० सी (गणित) बी० एस० सी० ऑनर्ज़ (भौतिक) मेम्बर आव दि इंस्टीट्यूट आव ऐक्चुअरीज़ (लण्डन)]

विद्वत्त्वस्थापनार्थाय, नमएष परिश्रमः ।
किन्तु नानाविवादानां शान्तये युक्ति पूर्वकम ।

मुझे इस लेख के लिखने की आवश्यकता न पड़ती यदि मैंने जयपुर राजकीय पाठशाला में गणित ज्योतिः शास्त्र के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक महा महोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी-प्रणीत 'क्षेत्रमिति' (Geometry) की भूमिका में ऋग्वेद के मण्डल ५ सूक्त ४० मन्त्र ९ का अर्थ न देखा होता।

यद्यपि पण्डित जी का लक्ष्य उस स्थल पर इस मन्त्र का अर्थ लिखकर वेदों में आधुनिक पौराणिकता प्रतिपादित करना नहीं है फिर भी जो अर्थ उन्होंने किया है वह कुछ अंशों में असङ्गत होने के अतिरिक्त कालूराम ऐसे लोगों को वेदों का अनर्थ करके आधुनिक पौराणिकता सिद्ध करने का निष्फल प्रयत्न कराने से बाज़ नहीं रह सकता।

प्रथम इसके कि हम पण्डित जी का किया हुआ अर्थ उद्धृत करके उसकी आलोचना करें, हम यह उचित समझते हैं कि पाठकों को एक बार इस बात से भली भांति वाक़िफ़ करा दिया जाय कि गणित ज्योतिः शास्त्र के अन्तर्गत 'राहु' और 'केतु' ग्रह हैं क्या चीज़।

हमने कई फलित ज्योतिषियों से पूछा:—"आज रात को जब नक्षत्र तारा और ग्रह उदय होंगे" तो क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि 'राहु' और 'केतु' कौन से खगोल हैं।

उन सब बेचारों ने यही उत्तर दिया "ये दोनों 'अस्तग्रह' है; हमेशा अस्त ही रहते हैं उदय कभी नहीं होते।"

यह विचित्र उत्तर मैं बिल्कुल न समझ सका। परन्तु 'राहु और 'केतु' वास्तव में क्या चीज़ हैं इस बात का जान लेना कोई कठिन बात नहीं है।

भारतवर्षीयपञ्चाङ्गों के मिश्र मान पर दृष्टिपात करने से यह सुस्पष्ट विदित हो जाता है कि भारतीय पञ्चाङ्गों में जिनको 'राहु' और 'केतु' बताया गया है इन्हीं को सिद्धान्त ग्रन्थों में 'उच्च' और 'नीच' पात कहा है और पश्चिमीय देशों में 'असेंण्डिङ्ग' और 'डिसेंण्डिङ्ग' नोड्ज़ कहा है क्योंकि मिश्रमानों में।

(१) राहु और 'केतु' सदा वक्री रहते हैं अर्थात् उल्टे चलते हैं।

(२) और इन दोनों का अन्तर सदा छे राशियों यानी १८०° अंशों (180° degrees) का रहता है।

इन बातों तथा ग्रहण सम्बन्धी नियमों से यही कहा जा सकता है कि 'राहु' और 'केतु' चन्द्र के उच्च और नीच सम्पातों के सिवा और कुछ नहीं हैं।

ये......कोई भौतिक पदार्थ नहीं किन्तु ये वे दो विन्दुमात्र है जिनमें चन्द्र का पृथ्वी के गिर्द परिवर्त्तनशील मार्ग उस धरातल (Plane) को काटता है (intersects) जिसमें सब ग्रहगण सूर्य्य का परिक्रमण करते हैं अथवा भारतीय पञ्चाङ्गों के मत से जिस धरातल सूर्य्यादिग्रह पृथ्वी का परिक्रमण करते हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा काशीद्वारा प्रकाशित 'हिन्दी वैज्ञानिक कोष' में भी श्री पं० सुधाकर द्विवेदीजी ने ज्योतिर्गणित भाग में 'असेण्डिङ्ग' और 'डिसण्डिङ्ग' 'नोड्ज' का अनुवाद 'राहु' और 'केतु' ही किया है।

'राहु' और 'केतु' का व्युत्पन्न अर्थ भी इन दोनों सम्पातों में घट जाता है:—

रहत्यपसरतिचन्द्रात्सर्वेभ्यो ग्रहेभ्यो वेति राहुः।

हसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्॥ उणादिसूत्रेषु ॥ १ ॥ ३ ॥

अर्थात् 'रह' धातु से जिसका अर्थ त्यागना या छोड़ना है 'ञुण्' प्रत्यय करने पर 'राहु' बनता है जिसकी व्युत्पत्ति यह हुई:—

जो चन्द्र अथवा सब ग्रहों को परित्यक्त करता अर्थात् उलटी ओर चलने के कारण जो चन्द्र अथवा सब ग्रहों से दूर हटता जाता है वह 'राहु' कहाता है॥

निशामयति श्रावयति ग्रहण समयं वा सकेतुः।

चायः की ॥ उणादिसूत्रेषु ॥ १ ॥ ७४॥

अर्थात् 'चाय्' धातु को जिसका अर्थ पूजा करना और सुनाना है 'की' आदेश होकर 'तु' प्रत्यय होता है, तब 'सार्व धातुकार्धधातुकयोः इस पाणिनीय सूत्र से 'की' को गुण होकर 'केतु' बनता है। जो ग्रहण समय को सुनाता अर्थात् जनाता है वह 'केतु' कहाता है।

ग्रहण विद्याविशारद इस बात को भली भाँति जानते हैं कि सूर्य्य ग्रहण तभी होता है जब चन्द्र, सूर्य्य और पृथिवी के बीच में आकर ऊपर बताये हुए 'राहु' या 'केतु' बिन्दु (point) से एक परिमित दूरी के भीतर होता है। यह परिमित दूरी ज्योतिषग्रन्थों में दी हुई है परन्तु हमें ज़बानी याद नहीं। जब कभी चन्द्र 'राहु' और 'केतु' नामक बिन्दुओं से इस परिमित दूरी से दूरतर होता है तब तो सूर्य्य और पृथिवी का मध्यवर्त्ती होते हुये भी सूर्य्य ग्रहण नहीं पैदा कर पाता।

क्रमशः

सम्भाषण

बहनो और भाइयो,

सभापति के भाषण के सम्बन्ध में रूढ़ि यह है कि प्रथम उन सज्जनों को धन्यवाद दिया जाय जिन्होंने सभापति का निर्वाचन किया है। फिर अपनी अयोग्यता और अन्य विद्वज्जनों के पांडित्य के विषय में कुछ कह कर चुनने वालों की बुद्धिमत्ता पर संदेह उठाया जाय। तत्पश्चात् उन्हीं की आज्ञा को येन केन प्रकारेण पालन करने के लिये तत्परता दर्शायी जाय। दर्शन सम्बन्धी सभाओं में जिनका एक मात्र उद्देश्य रूढ़ियों की ओर से उदासीनता और तत्व की खोज है इन सब रस्मों को अदा करना उचित है या अनुचित, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसकी मीमांसा स्वयं एक जटिल दार्शनिक समस्या का रूप धारण कर सकती है। हमारे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दर्शन-विभाग की यह पहली बैठक है। अतः यह उचित प्रतीत नहीं होता कि आरम्भ में ही इस शुष्कवाद को उठाया जाय। इसलिये रूढ़ि के अनुसार मैं भी आप सज्जनों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि आपने अपने इस महत्व-पूर्ण विभाग का सभापति चुनकर मेरे मान को बढ़ाया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का दर्शन-विभाग बड़ा ही महत्व-पूर्ण है और उसका सभापति भी किसी विवेकी पुरुष को ही बनाना चाहिये था। परम दार्शनिक श्री शङ्कराचार्य्य जी ने दर्शन के अधिकारी के लिये चार बातें बताई हैं—

(१) नित्यानित्यवस्तु-विवेक :—अर्थात् जिसे नित्य और अनित्य का विवेक हो।

(२) इहामुत्रार्थभोगविराग :—अर्थात् जिसे ऐहिक और पारमार्थिक भोगों से विराग हो।

(३) शमदमादिसाधन संपत्— अर्थात जो शम दम आदि साधनों से सम्पन्न हो।

(४) मुमुक्षत्वं—अर्थात् जिसमें मुक्ति की इच्छा हो।

आप सब पर भली भांति विदित है कि मुझमें इन गुणों का अभाव है। परन्तु यह भी कुछ कम बुद्धिमत्ता नहीं है कि आरम्भ छोटे से ही होना चाहिये। संसार के सभी बड़े बड़े कामों का आरम्भ छोटा ही होता है। प्रश्न यह नहीं है कि हम चलते कहाँ से हैं। प्रश्न यह है कि हम जा कहां को रहे हैं।

दर्शन किसे कहते हैं ? अङ्गरेजी भाषा में दर्शन के लिये फिलासफी शब्द आता है । यह यूनानी भाषा के दो शब्दों से बना है फिल (Philos=loving) का अर्थ है मित्र और सोफ़ी (Sophos=wise) का अर्थ है बुद्धिमान् । जो बुद्धिमत्ता का मित्र है वह फिलासफ़र है । इस लक्षण के अनुसार तो सभी अपने को फ़िलासफ़र कहना पसन्द करेंगे । परन्तु पारिभाषिक अर्थों में कुछ भेद पड़ गया है । मैं बचपन से फ़िलासफी शब्द को सुना करता था और जी में कहा करता था कि फिलासफ़र कैसा होता है और फ़िलासफी की पुस्तकों में क्या लिखा होता है । अचानक एक दिन मुझे मालूम हुआ कि मैं "भी तो फ़िलासफ़र हूँ ।" इसकी कथा आपके मनोरंजनार्थ कहे देता हूँ ।

मैं प्रयाग के ट्रेनिंग कालेज में शिक्षा-विधि का विद्यार्थी था । एक दिन अध्यापन-कला में मेरी परीक्षा हुई । मुझे जो वस्तु-पाठ (Object lesson) पढ़ाना था उसका शीर्षक था "बीज" । मैंने भिन्न भिन्न प्रकार के बीजों को इकट्ठा किया । जिनमें अमरूद के छोटे बीज से लेकर नारियल के बड़े बीज तक सभी मौजूद थे । बीजों को बनस्पति-शास्त्र के नियमानुसार कई कक्षाओं में विभाजित किया । उनके विषय में कुछ बातें बताईं । जब पाठ का अन्त हुआ तो मैंने अपने विद्यार्थियों से कहा "क्या तुम ईश्वर की उस महती सत्ता का अनुभव नहीं करते जिसके द्वारा ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार के बीजों से ऐसे विचित्र फूल पत्ते तथा फल उत्पन्न होते हैं ? बरगद के छोटे से बीज से बरगद का इतना विशाल वृक्ष बन जाना कैसा आश्चर्यजनक दृश्य है ।" प्रिंसिपल महोदय जो अध्यापन का निरीक्षण कर रहे थे मेरे अन्तिम वाक्य को सुन कर कह उठे, "You are a young philosopher," (तुम तो एक युवक फ़िलासफ़र हो) । उस दिन से मेरे सहपाठी कभी कभी हंसी में मुझे यंग फ़िलासफ़र कह दिया करते थे ।

मुझे अब तक मालूम नहीं था कि मैं फ़िलासफ़र हूँ । मैं फ़िलासफ़र का दर्शन करने के लिये उत्सुक था । परन्तु उस दिन साधारण प्राकृतिक दृश्यों का ईश्वर से सम्बन्ध बताने के कारण मैं फ़िलासफ़र हो गया । मेरे विचार से संसार के सभी मनुष्यों में थोड़ा बहुत फ़िलासफी का बीज मौजूद है । लाल बुझक्कड़ के गांव के सब लोग जो लाल बुझक्कड़ से साधारण दृश्यों के रहस्यों को पूछा करते थे फिलासफ़र थे । क्योंकि उनके मन में तत्व के जानने की आकांक्षा थी । जब आप के मन में यह प्रश्न उठे कि अमुक घटना कैसे होगई तो इस प्रश्न का उठना मात्र ही फ़िलासफी की बुनियाद है । थिली (Thilly) ने अपनी (A history of philosophy) की भूमिका के आरंभ में लिखा है :—

A history of philosophy aims to give a connected account of the different attempts which have been made to solve the problem of existence or to render intelligible to us our world of experience.

अर्थात् फ़िलासफ़ी का इतिहास उन भिन्न भिन्न प्रयासों का क्रमबद्ध इतिहास है जो सत्ता के प्रश्न को हल करने या अपने अनुभवों के जगत् को ज्ञेय बनाने के लिये किया जाता है। लाल बुझक्कड़ क्या करता था? जब उसने कहा :—

लाल बुझक्कड़ बूझिया और न बूझे कोय।
पैरों चक्की बांध के हिरना कूदा होय॥

तो उसने अपनी बुद्धि तथा अपने गांव और समय की सामूहिक बुद्धि के अनुसार एक दृश्य की पहेली को बूझने की कोशिश की।

अन्य फ़िलासफ़र क्या करते हैं? वह भी पहेलियां बूझते हैं। जीवन एक पहेली है। जगत् एक पहेली है। इस पहेली को अपनी विद्या, अपनी बुद्धि तथा अपनी शक्ति के अनुसार बूझना फिलासफ़रों का काम है! इस प्रयास में हम सफल हों या असफल, यह और प्रश्न है। जगत् के जितने बड़े बड़े फ़िलासफ़र हुये हैं वह अपने हृदय पटल पर हाथ रख कर यह नहीं कह सकते कि उनको सफलता हुई। केनोपनिषत् में तो इस का फ़ैसला ही कर दिया :—

यस्यामतम् तस्य मतम् मतम् यस्य न वेद सः।
अविज्ञातम् विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

अर्थात् जो समझता है कि मैं इस भेद को समझ गया उसने नहीं समझा और जिसने समझा है कि यह भेद समझ में नहीं आता वही समझा हुआ है। हरबर्ट स्पेंसर का ज्ञेय और अज्ञेय (The Knowable & the Unknowable) भी तो इसी बात को ओर संकेत करता है।

आप शायद कहने लगें कि लाल बुझक्कड़ का दृष्टान्त देकर मैंने आप का अपमान किया। परन्तु मेरा यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है। यदि हम उपनिषत् के वाक्य पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि पहेली बूझने का यत्न करने के कारण तो अवश्य उसमें फ़िलासफ़ी का बीज था। परन्तु जब वह कहता था

लाल बुझक्कड़ बूझिया और न बूझे कोय।

तो वस्तुतः वह फ़िलासफ़रों की श्रेणी से वहिष्कृत करने के योग्य हो जाता था।

क्योंकि यह कहना कि "मैं रहस्य को समझ गया। कोई मेरे समान रहस्य को नहीं जानता" फिलासफ़ी नहीं किन्तु मूर्खता की पराकाष्ठा है।

मैंने आरंभ में प्रश्न उठाया था कि दर्शन क्या है? इसका सबसे श्रेष्ठ उत्तर मुण्डकोपनिषत् में दिया है।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदम् विज्ञातं भवतीति॥

"महा-गृहस्थी शौनक अङ्गिरा ऋषि की सेवा में उपस्थित होकर कहते हैं "हे भगवन्! किस वस्तु के ज्ञात होने पर संसार की सभी वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं।"

शौनक वास्तविक रूप से महान् दार्शनिक था। क्योंकि उसके हृदय में उस महान् तत्व के खोजने की आकांक्षा हुई जिसके जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है। संसार की भिन्न भिन्न घटनाओं, भिन्न भिन्न वस्तुओं और भिन्न भिन्न दृश्यों में यह समझना कि यह सब अलग अलग नहीं हैं किन्तु परस्पर सम्बद्ध हैं, कोई एक विशेष नियम है जो इन सब में ओत प्रोत है और जिसको जानने से ही यह वस्तुएँ समझ में आ सकती हैं दर्शन-शास्त्र की प्रथम श्रेणी है। अंगरेज़ी में इस जगत् को यूनीवर्स (Universe) कहते हैं। यूनी शब्द एक का वाचक है। इसलिये यूनीवर्स का शाब्दिक अर्थ होगा ऐक्य (Oneness)। जगत् बहुत होते हुए भी एक है। देखने में तो यह यूनीवर्स (Universe) या ऐक्य नहीं किन्तु मल्टीवर्स (Multi-verse) अर्थात् बहुत्व प्रतीत होता है। परन्तु इस बहुत्व में ऐक्य छिपा हुआ है अर्थात् संसार की यह भिन्न भिन्न वस्तुयें असम्बद्ध नहीं हैं किन्तु सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार से जंजीर की कड़ियां बहुत सी हैं परन्तु वे सब मिलकर एक जंजीर बनाती हैं, वह सब एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं, वह अलग नहीं हैं, वह बहुत होते हुये भी एक हैं, इसी प्रकार संसार की भिन्न भिन्न घटनाओं और दृश्यों को समझना चाहिये। जो पुरुष इस नानात्व में एकत्व को नहीं देखता वह दार्शनिक नहीं है। तभी तो उपनिषत् कहती है:—

नेह नानास्ति किंचन।

(बृहद्० ४।४।१९)

अर्थात् यहां कोई नानात्व है ही नहीं। जो वस्तुयें नाना हैं वह भी सम्बद्ध होकर एक हो गई हैं। क्योंकि उनके भीतर एक महती सत्ता ओत प्रोत है। इस सत्ता

का पता लगाना ही दर्शन-शास्त्र का एक मात्र उद्देश्य है। जब शौनक ने अङ्गिरा से प्रश्न किया तो अङ्गिरा ने क्या उत्तर दिया ?

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

(मुण्डक १।४, ५)

दो प्रकार की विद्यायें हैं जिनका ब्रह्मविद् अर्थात् दार्शनिकों ने वर्णन किया है एक अपरा जिसके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, आदि अनेक विद्यायें और शास्त्र हैं। दूसरी परा अर्थात् दर्शन शास्त्र है जिसके द्वारा अक्षर अर्थात् उस बड़े तत्व का ज्ञान होता है जो उन वस्तुओं में ओत प्रोत है। जितनी सायंसें अर्थात् विज्ञान-विभाग हैं वे सब अपने अपने क्षेत्र में वस्तुओं की अलग अलग जाँच करते हैं। कैमिस्ट्री एक विद्या है, गणित एक दूसरी विद्या है, व्याकरण एक तीसरी विद्या है। इन सबके क्षेत्र अलग अलग हैं। यह संसार के दृश्यमान् पदार्थों की खोज करती हैं। यही अपरा विद्या के नाम से पुकारी गई हैं। परन्तु जहाँ अपरा विद्यायें कई हैं वहाँ परा विद्या एक है। वह दृश्यमान् पदार्थों से अधिक सम्बन्ध नहीं रखती। वह विद्याओं की विद्या है। वह उस नियम की खोज करती है जो अन्यान्य विद्याओं के भीतर गुप्त है अथवा जिसके भीतर वे विद्यायें गुप्त हैं। इस नियम को अक्षर अर्थात् न नाश होने वाला बताया गया है। दृश्यमान पदार्थ नाश होते रहते हैं। इनके रूपों में परिवर्त्तन होता रहता है। परन्तु वह नियम जो इन दृश्यमान पदार्थों को दृष्टिपथ के भीतर लाता और फिर हटा ले जाता है नाशवान् नहीं किन्तु अक्षर है। इसी को ब्रह्म (बड़ा Great Principle) या पुरुष (पुरि शेते इति* Underlying Principle) कहा गया है। यह नियम क्या है? यह कहना कठिन है। अङ्गिरा ऋषि इसको स्पष्ट बता नहीं सकते। वह जानते हुये भी नहीं जानते और नहीं जानते हुये भी जानते हैं। वह केवल इतना ही कहते हैं :—

यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रंतदपाणिपादं नित्यम् विभुम् सर्वगतम् सुसूक्ष्मम् तदव्ययम् तद् भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीराः॥

---

*स पुरि शेते स पुरि शेते इति। पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते॥

—गोपथ ब्राह्मण (पूर्व० प्र० १। क० ३९)

वह तत्व देखा नहीं जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता। वह इन्द्रियों से परे है। उसके आँख, कान, हाथ, पैर नहीं हैं। परन्तु फिर भी यह नहीं कह सकते कि वह है ही नहीं। यदि वह न होता तो यह आंख, कान, हाथ, पैर कैसे होते ? माला का धागा टूट जाय तो माला नहीं रह सकती। दाने अलग २ बिखर जायेंगे। उनके बिखरते ही न केवल माला का ही अभाव हो जायगा किन्तु दाने भी अपने अस्तित्व को खो बैठेंगे। यही हाल इस दृश्यमान जगत् का है। यह अदृश्य अक्षर ही है जो दृश्य पदार्थों की सत्ता का आधार है। इसी की तो खोज करनी है।

बहुत से लोग इस खोज को व्यर्थ समझते हैं। जिनको जान ही नहीं सकते उसकी तलाश ही क्यों करें ? आकाश के पुष्पों को ढूँढने का कौन प्रयत्न करेगा ? यही कारण है कि कुछ लोग फिलासफरों और दर्शन शास्त्रज्ञों को ड्रीमर या स्वप्न देखनेवाला कहते हैं। उनको तत्व की खोज का दृश्यमान जगत् में कोई उपयोग ही नहीं दीख पड़ता। परन्तु यह केवल दृष्टि-कोण का भेद है। साधारण लोकोक्ति है कि "आम खाने हैं तो पेड़ क्यों गिनते हो ?" परन्तु स्मरण रहे कि जहाँ बच्चों का अन्तिम ध्येय आम खाना है न कि पेड़ गिनना। वहां बाग़ के स्वामी का यह भी कर्त्तव्य है कि पेड़ों की संख्या भी जानता रहे। जो पेड़ गिनने का कष्ट नहीं उठा सकता उसको आम भी खाने को नहीं मिलेंगे। जिनकी दृष्टि वस्तुओं की ऊपरी तह तक ही सीमित रहती है वह न गहरे पैठ सकते हैं न रत्न निकाल सकते हैं।

यदि संसार की प्रसिद्ध प्रगतियों पर दृष्टि डाली जाय तो उनकी तह में दार्शनिक सिद्धान्तों का भेद अवश्य मिलेगा। भिन्न २ समय और भिन्न २ देशों के दार्शनिकों ने उस महत् तत्व को भिन्न २ दृष्टि से देखा। उसके सम्बन्ध में उनके विचार भिन्न भिन्न हुये। यही कारण है कि उनका व्यावहारिक जगत भी बदल गया। भिन्न भिन्न देशों की सभ्यताओं का भेद, भिन्न २ जातियों के संस्कार तथा संस्थायें इन सबका मूलाधार उनके दर्शन शास्त्र हैं। इसलिये दर्शन को अनुपयोगी या कम उपयोगी बताना उचित प्रतीत नहीं होता। संभव है कि कुछ दार्शनिक लोग ड्रीमर या स्वप्न देखने वाले ही हों। परन्तु जो स्वप्न देखता है वह स्वप्न की भांति ही व्यवहार भी करेगा। सभी दार्शनिक तो स्वप्न देखने वाले नहीं हैं। यही तो खोज करनी है कि हम सोते हैं या जागते हैं और यदि सोते हैं तो जग कैसे सकते हैं।

जो लोग ब्रह्म को अज्ञेय समझ कर आकाश के पुष्प या बन्ध्या के पुत्र के समान छोड़ देते हैं वह भूलते हैं। यह तत्व आकाश का फूल नहीं है। यह तत्व है। यह अज्ञेय होता हुआ भी ज्ञेय है और ज्ञेय होता हुआ भी अज्ञेय है। अज्ञेय

इसलिये है कि वह परा विद्या का विषय है अर्थात् हमारी बुद्धि की सीमा के बाहर है। और ज्ञेय इसलिये है कि उसके अस्तित्व का हमको अनुबोध है। हम उसके होने से इनकार नहीं कर सकते। उपनिषद् इसीलिये तो कहती है कि

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।

अर्थात् न मैं यह मानता हूँ कि उसको भली भांति जानता हूं न यह जानता हूँ कि उसे नहीं जानता। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया है कि कौन तत्व किसमें ओत प्रोत है। पहले तो याज्ञवल्क्य उत्तर देते रहे। अन्त में उनकी बुद्धि चकरा गई और वह कहने लगे :—

गार्गि माति प्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तद् अनतिप्रश्न्यां वै देवताम् पृच्छसि। गार्गि मातिप्राक्षीरिति॥

(बृह० —अध्याय ३ ब्राह्मण ६)

हे गार्गी आगे मत पूछ। नहीं तो तुझे हानि होगी। तू ऐसी बात पूछती है जिसके विषय में प्रश्न किया ही नहीं जा सकता।

यह तो हुआ उस प्रश्न के विषय में कि दर्शन किसे कहते हैं? भारतवर्ष ने दर्शन शास्त्र को सदा ही अपने जीवन में एक उच्च स्थान दिया है। भारतीय धर्म और भारतीय दर्शन में सदा तदात्म्य रहा है क्योंकि भारतीय लोग जीवन व्यतीत करने से पहले उसकी जटिल पहेली को बूझने की कोशिश करते रहे हैं। तभी तो मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था कि

येनाहं अमृता नास्यां तेनाहं किम् कुर्याम्।

(बृहद०—४। ५। ४)

अर्थात् जिससे मैं अमर न हो जाऊँ उसको लेकर क्या करूँगी। बिना जीवन तत्व की खोज किये जीने की कोशिश करना व्यर्थ और नीरस है। जीते तो सभी हैं। पशु भी और मनुष्य भी। पशु तत्व की खोज नहीं करते और मनुष्य को तत्वज्ञ होने की योग्यता दी गई है। अतः मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि तत्व की खोज करे।

मैं यहां उन सब प्रयासों की विवेचना करना नहीं चाहता जो भारत माता के सुपुत्र सृष्टि की आदि से अब तक दार्शनिक उलझनों के सुलझाने में करते रहे हैं। आर्य्य जाति एक अति प्राचीन जाति है। इसके सिर पर समय समय पर अनेक विप्लव आते रहे हैं। ऐसी प्राचीन जाति के युग-युगान्तर के साहित्य का इस प्रकार गड़बड़ हो जाना कि पूर्वापर का पता न चले स्वाभाविक ही है। परन्तु जो लोग यह

समझते हैं कि भारतवर्ष ने दर्शन-शास्त्र की मौलिकता में कोई भाग नहीं लिया वह भारतवर्ष ही नहीं किन्तु मानव जाति के साथ अन्याय करते हैं। हमको थिली के फिलासफी के इतिहास में यह पढ़ कर आश्चर्य होता है :—

Few of the ancient peoples advanced far beyond the mythological stage, and perhaps none of them can be said to have developed a genuine philosophy except the Greeks.

अर्थात् प्राचीन जातियों में से किसी ने देवमाला की श्रेणी से आगे पग नहीं बढ़ाया और शायद यूनान वालों को छोड़कर किसी अन्य जाति ने वास्तविक दर्शन शास्त्र को उत्पन्न नहीं किया।

यहां अवकाश नहीं है कि यूनानी और भारतीय दर्शनों की तुलना की जाय। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल यूरोप की सभ्यता तथा उनके दर्शन शास्त्र की नींव यूनान की फिलासफी पर पड़ी। और यूनान की इस सम्पूर्ण फिलासफी का आरम्भ उस देवमाला से होता है जो होमर आदि के काव्यों में यत्र तत्र पाई जाती है परन्तु भारतवर्ष के दर्शनों का भी उसी प्रकार का निकास बताना न्याय-पूर्ण नहीं जंचता! प्रश्न यह है कि जब ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी में थैलीज़ (Thales) और उसके शिष्य एनाक्सी मैण्डर (Anaximander) आदि ने यूनानी दर्शन-भवन का पहला पत्थर रक्खा उससे पूर्व किसी अन्य जाति और विशेषकर भारतवर्ष में दर्शन-शास्त्र था या नहीं। यदि उपनिषदों के ही आत्म-विज्ञान या ब्रह्म विज्ञान पर गूढ़ विचार किया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जाती है। अर्थात् भारतीय दर्शन देवमाला (mythology) से आरम्भ नहीं होता किन्तु भारतीय देवमाला उस समय उत्पन्न होती है जब दार्शनिक विचार विस्मृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहना उपयुक्त होगा कि यूनान के दर्शन-शास्त्र की जननी वहाँ की देवमाला है। परन्तु भारतीय देवमाला भारतीय दर्शन की चिता पर उपजी है और जब जब भारतीय दर्शन ने पुनर्जन्म ग्रहण किया तब तब देवमाला का ह्रास होता गया।

दूसरा प्रश्न यह है कि थैलीज़ (Thales) को अपनी फ़िलासफी किस प्रकार सूझी। थैलीज़ का कोई ग्रन्थ आज कल प्राप्य नहीं है। परन्तु जिन लोगों ने यूनानी फिलासफी के इतिहास का अध्ययन किया है उनके कथन का सार यह है :—

If we may believe Hippolytus, all things not only came from water, according to Thales, but return to water. Perhaps he conceived it as a kind of slime, which would explain most satisfactorily both solids and liquids, and the origin of living beings.

अर्थात् यदि हिपोलीटस के कथन को प्रामाणिक माना जाय तो थैलीज का यह मत था कि सब वस्तुयें न केवल जल से उत्पन्न होती हैं किन्तु अन्त में जल में ही लय हो जाती हैं। शायद वह जल को एक प्रकार की कीच (Slime) समझता था जिस से ठोस और द्रव पदार्थों की तथा जीवधारियों की उत्पत्ति की सन्तोषजनक व्याख्या हो सके।

Out of water everything comes, how he does not tell us. (Thilly).

जल से ही प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति है। कैसे? यह वह नहीं बताता।
He found the ultimate substance in water (Rogers)

वह जल को ही तत्व समझता था।

परन्तु इसीसे मिलते जुलते ऋग्वेद के दो मंत्र सामने आते हैं जिनसे यह उलझन दूर हो जाती है:—

तम आसीत् तमसा गूढहऽमग्रेऽप्रकेतम् सलिलम्* सर्वमा इदम्॥

(ऋ० १०। १२९। ३)

आरम्भ में अन्धकार था। अन्धकार से ढका था और यह सब न दिखाई देने वाला 'सलिल' था।

यद् देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥

(ऋ० १०। ७२। ६)

अर्थात् हे विद्वानो! जब आप लोग 'सलिल' में मिले जुले स्थित थे और जब तुम्हारे नृत्य करने वाले के समान तीव्र रेणु उत्पन्न हुआ।

यह 'सलिल' क्या है? यद्यपि संस्कृत में सलिल का अर्थ जल भी है। परन्तु सलिल परमाणुओं (Atom) का भी वाचक है। यहाँ सलिल का अर्थ जल करना ठीक न होगा। क्योंकि यहाँ सलिल का ही विशेषण 'अप्रकेतं' आया है। दूसरे मंत्र में सलिल का ही पर्य्याय 'रेणु' आया है। इससे स्पष्ट है कि थैलीज से बहुत पूर्व 'सलिल' से सृष्टि उत्पत्ति का ज्ञान था। और क्या आश्चर्य है कि थैलीज का भी इसी प्रकार के परमाणु आदि से तात्पर्य रहा होगा!

* सलिलं सलगतो औणादिकः इलच्। इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतं अविभागापन्नं आः आसीत् इतिसायणः।

यहां मेरा प्रयोजन किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त की मीमांसा करना नहीं है। यहां मुझे केवल यह बताना है कि भारतवर्ष की दार्शनिक उन्नति उपेक्षा के योग्य नहीं है। प्राचीन दार्शनिकों को जाने दीजिये। हमारे इतिहास के नष्ट होने के कारण लोग उनको इतिहास से पूर्व काल का (Pre-historic-age) कहकर टाल देते हैं। परन्तु मध्यकाल में भी जिस देश ने शङ्कर, रामानुज, माधवाचार्य, दिग्नाग, नागार्जुन आदि आदि दिग्गज दार्शनिक उत्पन्न कर दिये हों उस देश के निवासियों को अपनी दर्शन-सम्पत्ति पर अभिमान न करना अश्चर्यजनक खेद ही तो है।

आप की यह सभा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अंग हैं। अतः यह अनुचित न होगा यदि मैं दर्शन और हिन्दी के सम्बन्ध में एक दो बातें कहदूं। यदि संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों को छोड़ दिया जाय तो हिन्दी में दार्शनिक ग्रन्थों का अभाव ही है। श्री निश्चलदासजी के वृत्ति प्रभाकर तथा दो एक जैन धर्म सम्बंधी ग्रन्थों को छोड़कर कोई दार्शनिक ग्रन्थ हिन्दी भाषा में मेरे देखने में नहीं आया। इसका कारण यह है। हिन्दी की माता संस्कृत है और विमाता अङ्गरेजी। हिन्दी इस समय अपनी विमाता के आधीन है। विमाताओं का प्रेम तो जगत् प्रसिद्ध ही है और माता की चलती नहीं। अतः हिन्दी में दर्शन ग्रन्थों का अभाव है। जो विचार शील हैं वह या तो अङ्गरेजी में सोचते हैं या संस्कृत में। यही कारण है कि मौलिक भाव उत्पन्न नहीं होते। यदि यूरोप के लोग लैटिन और ग्रीक के द्वारा ही सोचते रहते तो उनका साहित्य भी कुछ उन्नति न करता। आप अपने भूतकाल पर अवश्य अभिमान कर सकते हैं परन्तु आप का वर्तमान तो उसी समय उन्नत होगा जब हिन्दी राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लेगी!

हम सब को आशा रखनी चाहिये कि आप का दर्शन विभाग उत्तरोत्तर उन्नति करेगा! ❀

❀ यह सम्भाषण ३० दिसम्बर १९३१ को झांसी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दर्शन परिषद् की ओर से पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० ने पढ़ा था।

ऋषि की स्मृति

[श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"]

(१)

आये वासुदेव कंस आदि को विनष्ट करि,
भारत के मध्य सुख शान्ति को बढ़ा गये।
रवि-कुल-कमल दिवाकर श्री रामचन्द्र,
नीच गुह राज को भी उत्तम बना गये॥
भिलिनी के गेह भी सुरुचि से लगा के भोग,
प्रेम और कर्म की महत्ता को दिखा गये।
स्वामी दयानन्द भी हृदय में इन्हें ही धार,
वेदों के विचित्र राग जग को सुना गये॥

(२)

जग-गुरु भारत का आज सारा देश गुरु,
प्रभो! क्यों बना है यह बात जब खट की।
ध्यान जगदीश का किया जो ऋषि-राज तब,
बुद्धि बीच शीघ्र ही विकाश-कली चट की॥
वेदों की ऋचाओं को पढ़ा, हो शुद्ध चित्त ज्योंहीं,
ढोंग औ ढकोसलों की सारी कथा सट की।
प्रेममूर्ति ऋषि दयानन्द की कृपा से आज,
आर्य्यवीर मुख में है वेद-वाणी लट की॥

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी

(गतांक से आगे)

अक्टूबर व्यतीत हो चुका था। डेढ़ मास रह गया था। मुन्शी नारायण प्रसाद जी भवन बनवाने और प्रबन्ध करने के लिये नियत हुये। जिस बाग़ में भवन बनने को था वह इतना झाड़ झन-कार से भरा हुआ था कि जब मुन्शी जी उसका निरीक्षण करने गये तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने में ही आध घण्टे से कम नहीं लगा। जब बाग़ देख चुके थे तो निराशा ने आ घेरा। इतना थोड़ा समय और इतना काम! वह भी नगर से दो मील पर। कैसे बाग़ साफ़ हो। कैसे भवन बने। और यह सब छः सप्ताह में। परन्तु मुन्शी जी कठिनाई के समय साहस नहीं छोड़ते। ईश्वर का नाम लेकर चल पड़े। मथुरा के इंजिनियर बाबू धरणीधर दास और प्रसिद्ध वैद्य पं० क्षेत्रपाल शर्मा आदि की सहायता ली गई। दिन को और और रात को और मज़दूर लगाये गये। रात दिन काम होता था। एक पल भी काम बन्द न किया। इस सुप्रबन्ध का यह अर्थ निकला कि १५ दिसम्बर १९११ को गुरुकुल के विद्यार्थी अपनी वर्तमान भूमि में आ विराजे। बीच का बंगला बन गया था। आश्रम के कमरों में आधे छाये जाचुके थे और आधों का छाना शेष था। परन्तु जो काम वर्षों में नहीं हो सकता था वह सप्ताहों में हुआ और उत्सव भी समारोह के साथ मनाया गया। उस समय गुरुकुल के अधिष्ठाता श्री पूज्य पं० भगवानदीन जी थे। उनका सन् १९१२ ई० में देहान्त हो गया। और मुन्शीजी पहले तो छुट्टी लेकर वृन्दा-वन में आ गये। परन्तु १९१३ ई० में उन्होंने सर्वथा त्याग पत्र दे दिया और पेन्शन की भी प्रतीक्षा नहीं की। मुन्शीजी १९१९ की फर्वरी तक गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे। उसके पश्चात् अपने कार्य्य क्षेत्र को विस्तृत करने के प्रयोजन से वानप्रस्थ लेकर रामगढ़ जि०

नैनीताल चले आये। इसका हाल आगे आयेगा।

गुरुकुल के सुप्रबन्ध का समस्त भार मुन्शी जी के ही कंधों पर रहा। भीतरी प्रबन्ध करना, बाहरी विरोध का निराकरण करना और व्यय के लिये धन इकट्ठा करना यह सब कठिन काम थे। परन्तु मुन्शी नारायण प्रसाद जी की योग्यता उन कठिनाइयों से कहीं अधिकतर थी। वृन्दावन सनातनधर्म के पाखण्ड का गढ़ है। वहाँ आर्य्य समाज से विरोध करना स्वाभाविक था। चारों ओर से लोगों के आक्रमण हुये। ज्योंही मार्ग बनाते कोई उस भूमि का दावेदार खड़ा हो जाता। बिना बात के लोग कोलाहल करते। सरकार को झूठी अर्जियां दी जातीं। कोई कहता कि आर्य्य अमुक मन्दिर को ढाना चाहते हैं। कोई कहता कि आर्यों ने अमुक मूर्ति तोड़ डाली यह सब बातें निराधार थीं, परन्तु लोगों का प्रयोजन तो एक मात्र यह था कि यह लोग डरकर वहाँ से भाग जावें। मैं सन् १९१६ की गर्मियों में कुछ दिन गुरुकुल में ठहरा था मैंने हर छात्र के पास एक लोटा और एक कटोरी देखी। मैंने कारण पूछा तो मुझे बताया गया कि एक समय ऐसा आ चुका है जब गुरुकल में कार्य्य करने के लिये भृत्य नहीं मिलते थे। आस पास के पंडे बहका देते थे। इसलिये प्रत्येक छात्र को एक कटोरी दे दी गई थी। इसमें वह दाल ले लेते थे और पतलों पर रोटी, इस प्रकार कुछ दिनों कार्य्य चलाया गया। उस समय वहां पर एक नौकर था। वह आरम्भकाल की बातें सुनाया करता था। वह कहने लगा कि जब मैं मजदूरी करने आया तो लोगों ने कहा—"आर्यों का काम न कर! यह गोमांस भक्षी हैं।" थोड़े दिनों में उसे सब रहस्य ज्ञात हो गया।

इस प्रकार की पचासों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु मुन्शीजी का ही साहस था कि सबको पार कर गये। गुरुकुल के साथ साथ प्रचार का कार्य्य भी जारी रहता था। समाज-सुधार की ओर भी बड़ा ध्यान था। गुरुकुल भूमि के निकट ही गुरुकुल के स्वत्व में एक कुंआ था। कुछ ऐसी प्रथा चल पड़ी थी कि मुसल्मान भिश्ती उससे पानी भरते थे और कुछ लेकर चमारों को पानी दिया करते थे। चमारों ने मुन्शी जी से कहा। इन्होंने कहा—"तुम मूर्ख हो! स्वयं पानी क्यों नहीं भरते।" चमारों ने कुंए से पानी भर लिया। इस पर बड़ा कोलाहल हुआ। बहुत से मुसल्मान आये और कहने लगे कि "कुंआ नापाक हो गया कि जिस प्रकार बहुत से हिन्दू हमको कुएं से पानी नहीं भरने देते उसी प्रकार हम भी इन अछूतों को कुंए पर चढ़ने नहीं देते।"

मुंशी जी का शान्ति-प्रद उत्तर यह था कि 'कुंआ हमारा है। हम किसी से घृणा नहीं करते। हमारे लिये तुम सब एक हो। हम किसी मुसल्मान को अपने कुंए से नहीं रोकते। तुम हमारे सभी कुंओं से पानी भर सकते हो।' जैसे हम तुमसे घृणा नहीं करते, हम चाहते हैं कि तुम भी चमारों से घृणा न करो।'

इस प्रकार एक अनुचित प्रथा का अन्त हो गया। यह न समझना चाहिये कि मुन्शी जी का इतना ही काम था। सार्वदेशिक सभा की बात तो सुनिये। आठ वर्ष पहले से यह विचार हो रहा था कि जिस प्रकार प्रान्त भर के समाजों की प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा है उसी प्रकार सब प्रान्तीय सभाओं के प्रतिनिधि स्वरूप एक सार्वदेशिक सभा होनी चाहिये। कई प्रारम्भिक बैठकें हुईं। बहुत सा समय नियम निर्माण करने में लगा। अन्त को १९०८ ई० के दिसम्बर में सार्वदेशिक सभा नियमानुसार स्थापित हो गई और महात्मा मुन्शीराम जी प्रधान तथा पं० भगवान दीन जी मंत्री नियत हुये। १९१० के निर्वाचन में मंत्री का पद श्री मुन्शी नारायणप्रसाद जी को दिया गया। जिस पर यह छः, सात साल योग्यता पूर्वक कार्य करते रहे। अब कई साल से इस सभा के प्रधान हैं।

सन् १९१९ ई० बसन्त पंचमी के दिन मु० जी पचासवां वर्ष समाप्त हुआ। पहले प्रोग्राम के अनुसार वाण-प्रस्थ लेने का यही समय था। बसन्त-पंचमी से पूर्व ही मुंशीजी ने गुरुकुल छोड़ना निश्चित कर लिया था। सभी को बहुत दिनों पूर्व सूचना और चेतावनी दी जा चुकी थी। सभा मुंशी जी की कार्य्य के लिये अत्यन्त आभारी थी। दिसम्बर १९१८ में सभा की ओर से अभिनन्दन पत्र दिया गया जिसे श्री बा० मदनसेठ एम.ए. ने सभा मण्डप में पढ़ा। बसन्त-पंचमी आई। अकस्मात् मैं भी गुरुकुल में उपस्थित था। गुरुकुल वासियों ने बड़े दुःख के साथ अपने परम स्नेही और परम हितैषी अधिष्ठाता को विदा किया। मर्म भेदी व्याख्यान दिये गये। मुंशीजी को भी कुछ कम दुःख न था। परन्तु उनके सामने विस्तृत कर्तव्य था। बसन्त पंचमी को सायंकाल के समय मुंशी जी गुरुकुल छोड़ कर बन को चल दिये।

क्रमशः

ज्योतिष पर पाश्चात्य वैज्ञानिक
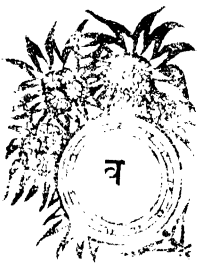
वर्तमान काल में ज्योतिष के ऊपर लोगों का बड़ा विश्वास है। हिंदुओं के लिये तो जाने, आने, खाने, पीने उठने बैठने में पण्डित जी से पूछ लेने की आवश्यकता पड़ती है। जितने विवाह होते हैं वे जन्म पत्री को मिला कर। लोगों का विचार है कि यदि ऐसा न किया जाय अशुभ की सम्भावना है। अपने दायें बायें देखिये कि जन्म-पत्री मिलाने पर भी स्त्रियां विधवा हो गईं, परन्तु लोगों का विश्वास ज्यों का त्यों है। अब भी समाचार पत्रों में विज्ञापन निकला करते हैं कि किसी फूल का नाम लिख भेजो हम वार्षिक फल बना कर वी० पी० द्वारा भेज देंगे। न जाने कितने भोले भाई इसमें फंस जाते हैं।

ज्योतिष के दो अंग हैं—एक का सम्बन्ध अंक से है और दूसरे का फल से। गणित वाली ज्योतिष तो विज्ञान का एक अंग है। उससे मालूम हो जाता है कि अमुक पुरुष जब उत्पन्न हुआ तो अमुक नक्षत्र थे। इसको मानने में कोई आक्षेप नहीं। परन्तु फलित ज्योतिष का कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं हो सकता। ग्रह या नक्षत्र हमारे जीवन पर क्या प्रभाव डाल सकते हैं।

फलित ज्योतिष का प्रश्न पाश्चात्य जगत में भी उठा। उस देश के समस्त वैज्ञानिकों से जिन्होंने गगन मण्डल का निरीक्षण किया है प्रश्न पूछे गये। इनमें से मुख्य ये थे—प्रोफेसर सचेलसिंगर (येल विश्वविद्यालय) प्रोफेसर डेनियल हेरिंग (न्यूयार्क विश्वविद्यालय) प्रोफेसर ब्राऊन (अमेरिका की ज्योतिष-समिति के सभापति)। ये ही नहीं, सब वैज्ञानिक घोषणा कर रहे हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह भ्रम है कि ग्रह या नक्षत्रों का प्रभाव मानव समाज पर पड़ता है।

डाक्टर वाल्टर फ्रेंकलिन बोस्टन के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। आपको यह जांच करने की इच्छा हुई की फलित ज्योतिष वालों की बातें कहां तक ठीक निकलती हैं। आपने अपने जन्म का वर्ष, दिन, और मिनट लिख कर ६ ज्योतिषियों को दिया सबसे एक ही प्रश्न पूछा गया था कि "मेरी शादी कब होगी?" भिन्न २ ज्योतिषशास्त्र के विद्वानों ने भिन्न भिन्न समय बताये। किसी को यह न सूझा कि फ्रेंकलिन महोदय का विवाह हो गया है।

प्रोफेसर सचेल सिंगर ने अपने पुत्र को जन्म-पत्री बनवाई। जन्म होने का समय बिल्कुल ठीक २ दिया। परन्तु जो बातें जन्म पत्री से घोषित होती थीं उन से विपरीत वास्तविकता थी।

वास्तव में ग्रहों का प्रभाव हम पर नहीं पड़ता। एक ही समय में उत्पन्न होने वाले दो बालकों को देखिये दोनों की आकृति, प्रकृति, धन, वैभव भिन्न होता है। जिस समय किसी महाराज के कुमार जन्म लेता है यह सम्भव नहीं कि ठीक उसी समय किसी दरिद्र के पुत्र न उत्पन्न होता हो। राजकुमार, राजकुमार रहता है, उसके ऐश्वर्यों का भोग करता है परन्तु वही दरिद्र का पुत्र रोटी के एक एक टुकड़े के लिये तरसता रहता है। यह सम्भव है कि ज्योतिषी जो बात बताता है सत्य निकल जावे (ज्योतिषियों के उत्तर ऐसे गोल मोल होते हैं कि सभी अर्थ निकल सकते हैं) पर यह नहीं कि अवश्य ही सत्य निकलेगा। उस पर विश्वास करना मूर्खता नहीं तो और क्या है।

Reg. No. 2011.

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

वार्षिक मूल्य २॥) एक प्रति का ।)

चमचम

मैनेजर—कला प्रेस, प्रयाग ।

Printed & Published by Ganga Prasad | Editor | at the Kala Press, Zero Road. Allahabad.